श्रीश्रीगुरु गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

वर्ष १९ | ज्येष्ठ सम्वत २०३० जून १९७३ | सं० १

श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु

सम्पादक- त्रिदंडिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

कार्यालयः-श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, पो० (मथुरा) उ० प्र०

संस्थापक—नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद
परमहंसस्वामी १००८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी
वर्तमान सभापति—आचार्य एवं नियामक
त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज
प्रचार संपादक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज

सहकारी सम्पादक-संघ—

[१] त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज (संघपति)
[२] त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त हरिजन महाराज
[३] त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिवेदान्त पद्मनाभ महाराज
[४] विद्यावाचस्पति श्रीवासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, नव्य व्याकरण, पुराण-इतिहास-धर्मशास्त्र सांख्य-आचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, एम० ए०, पी-एच० डी०
[५] पण्डित श्रीयुत केदारदत्त तत्रडी, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, एम०ए०, पी-एच०डी०
[६] डा० श्रीयुत शंकरलाल चतुर्वेदी, साहित्यरत्न, एम० ए०, पी-एच० डी०
[८] पण्डित श्रीयुत अच्युत गोविन्द दासाधिकारी 'साहित्यरत्न'
(९) पण्डित श्रीयुत सत्यपाल दासाधिकारी एम० ए०

आर्याध्यक्ष—त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिवेदान्त पद्मनाभ महाराज। वार्षिक भिक्षा ५-०० रुपया

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृ०सं०
१—श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि (श्रीकरभाजन योगीन्द्रकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्)	भगवान् श्रीश्रीमद्वेदव्यासजी	१
२—आत्माकी नित्यवृत्ति	जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर	४
३—प्रश्नोत्तर (भक्त्यानुकूल्य)	जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर	१४
४—सन्दर्भ-सार (भक्तिसन्दर्भ-२८)	त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज	१९
५—वर्ष-प्रारम्भमें निवेदन	सम्पादक	२२

श्रीभागवत-पत्रिकाके १९वें वर्षकी

विषय–सूची

क्र० स०	विषय	पं० सं०/पृ० सं०
१	—अब तो दशा सुधारो (कविता)	९।२०८
२	—अप्राकृत वस्तु का ज्ञान	२। २८
३	—अमूल्य कण्ठध्वनि	२। ४३
४	—आत्माकी नित्यवृत्ति	१। ४
५	—कर्मवादका हेयत्व	११।२५२
६	—कृष्ण भक्ति ही शोकादि विनाशिनी है	४। ७७
७	—गौड़ीयका तात्पर्य	६।१३९
८	—जगद्गुरु श्रील प्रभुपाद एवं अप्राकृत वाणी	१२।२८३
९	—जीवोंका परम श्रेयः	१०।२३२
१०	—परमार्थकी आलोचना	१०।२२०
११	—परमार्थकी बात	८।१७३
१२	—परमार्थका विचार	११।२४४
१३	—परमाराध्यतम.....की आविर्भाव तिथिपर पुष्पाञ्जलि	९।२०९
१४	—परमाराध्यतम.....की आविर्भाव तिथिमें पुष्पाञ्जलि	९।२०९
१५	—परमाराध्यतम.....की व्यास-पूजापर पुष्पांजलि	९।२१२
१६	—प्रश्नोत्तर— [भक्त्यानुकूल्य १।१४, पञ्चसंस्कार २।३५, ३।५८, दैव वर्णाश्रम ४। ८३ वैष्णव सदाचार ५।१०७, युक्त वैराग्य एवं दैन्य ६।१२७, सहिष्णुता, अमानित्व एवं मानदत्व ७।१५३, ऐकान्तिकी नामाश्रया भक्ति ८।१७७ रागात्मिका एवं रागानुगा भक्ति ९।२०४, श्रीचैतन्य शिक्षा १०।२२९ आशीर्वचन एवं जीवोंके प्रति वचन ११।२४९, विभिन्न बातें १२।२७८	
१७	—प्रचार प्रसङ्ग	४।९३, ६।१३६
१८	—प्रतिष्ठाशा	८।१८०
१९	—पौराणिक उपाख्यान— [राजा यज्ञध्वज चरित्र २।४७, यज्ञमाली चरित्र ३। ६५ सुमति सत्यमति चरित्र ४।८९, हरिभक्तिकी महिमा एवं कणिक चरित्र ५।११५, भक्त पुण्डरीक ११।२५४	

२०—भागवत धर्म याजनकारीका विचार ५।१००
२१—भक्तिकी बात २।४०, २। ६१
२२—मठवासियोंके कुछ कर्त्तव्य ६।१२४
२३—वर्णाश्रम विधि ७।१६०
२४—वर्ष-प्रारम्भमें निवेदन १। २२
२५—वास्तव एवं अवास्तव वस्तुका ज्ञान १२।२६८
२६—वैष्णव ही एकमात्र जगद्गुरु हैं ३। ५१
२७—शास्त्रीय साधुसंग ८।१८९
२८—संस्कृत भाषाका श्रेष्ठत्व १०।२३५
२९—संदर्भ-सार—[भक्ति सन्दर्भ-२८—१।१९, भक्ति सन्दर्भ-२९—२।३७, भक्ति सन्दर्भ-३०—४। ८६
भक्ति सन्दर्भ-३१-३२—५।१०९, भक्ति सन्दर्भ-३३— ८ १८४
भक्ति सन्दर्भ-३४—११।२६०, भक्ति सन्दर्भ-३५— १२।२८६
३०—श्रीचैतन्य महाप्रभुके दानका वैशिष्ट्य ७।१४८
३१—श्रीचैतन्य महाप्रभुद्वारा प्रचारित धर्म ७।१६४
३२—श्री जन्माष्टमीपर दार्शनिक आलोचना ३।६९, ४।९५, ५।११८, ६।१४१, ८।१८३
३३—श्रीदेवगणकृतं श्रीभगवद् स्तोत्रम् ८।१५९
३४—श्रीब्रह्माकृतं श्रीगर्भोदशायी स्तोत्रम् ९।१९३, १०।२१७, ११।२४१
३५—श्रीब्रह्मादि ऋषिकृतं श्रीश्रीवराहदेव स्तोत्रम् १२।२६१
३६—ब्रह्माकृतं श्रीश्रीभगवन् महिमा स्तोत्रम् ४।७३, ५।९७, ६।१२१
३७—श्रीप्रभुपादजीका विरह ९।२१३
३८—श्रीभगवान्‌की लीला ६।१४८
३९—श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि— [श्रीकरभाजन योगीन्द्रकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम् १। १
श्रीब्रह्मादि देवानां श्रीकृष्ण-स्तोत्रम् २।२५, ३। ४९
४०—श्रीश्रीउद्धवकृतं श्रीकृष्ण-महिमा स्तोत्रम् ७।१४५
४१—श्रीश्रीएकादशी-व्रत ७।१५६
४२—श्रीव्यास-पूजा महोत्सव १०।२३९
४३—श्रीव्यास-पूजामें श्रीमद्भागवतकी पुनरावृत्ति ९।१९६
४४—श्रीव्यास-पूजाका निमन्त्रण ८।१९२
४५—श्रीहरिभक्ति-माहात्म्य ६।१३३
४६—हरिभक्तकी महिमा ४। ७६

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्माको आनन्द प्रदायक। सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर।
भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १९ | गौराब्द ४८७, मास–त्रिविक्रम २९, वार–गर्भोदशायी, शुक्रवार, ३२ ज्येष्ठ, सम्वत् २०३०, १५ जून, १९७३ | संख्या १

जून १९७३

श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि

श्रीकरभाजन योगीन्द्रकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत ११।५।२९-३४)

नवयोगेन्द्रोंमें अन्यतम श्रीकरभाजनजीने इस प्रकारसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की—

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥

नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥

हे भगवन् ! वासुदेवरूपी आपको नमस्कार है, संकर्षण रूपी आपको नमस्कार है,

प्रद्युम्नरूपी आपको नमस्कार है, एवं अनिरुद्धरूपी आपको मैं नमस्कार करता हूँ। हे देव ! विश्वेश्वर ! हे सर्वभूतान्तर्यामी ! विश्वमूर्त्ति, नारायण ऋषिसंज्ञक महापुरुष रूपी आपको मैं प्रणाम करता हूँ ।।२९-३०।।

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नाना तन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु ।।३१।।

हे राजन् ! द्वापर युगमें इस प्रकार मनुष्य लोग जगदीश्वर की आराधना किया करते हैं। इस समय विविध तन्त्रविधानके अनुसार कलियुगकी आराधनाका नियम श्रवण करो ।।३१।।

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ।।३२।।

जो 'कृष्ण' यह वर्णद्वय कीर्त्तनपर कृष्णोपदेष्टा हैं या 'कृष्ण' यह वर्णद्वय कीर्तन करते हुए कृष्णानुसंधान-तत्पर हैं, जिनके 'अङ्ग' श्रीश्रीमद् नित्यानन्द प्रभु एवं श्रीश्रीमद् अद्वैत प्रभु हैं, जिनके उपांग उनके आश्रित श्रीवासादि शुद्धभक्त लोग हैं, जिनका 'अस्त्र' हरिनाम शब्द है एवं पार्षद श्रीगदाधर-श्रीदामोदरस्वरूप-रामानन्द-सनातन-रूपादि हैं, जो कान्तिमें 'अकृष्ण' अर्थात् गौर हैं, वे ही अन्तःकृष्ण बहिर्गौर राधाभावद्युतिसुवलित श्रीमद् गौरसुन्दरकी कलियुगमें सुमेधा या सुचतुर व्यक्ति लोग संकीर्त्तनप्रधान यज्ञ द्वारा आराधना किया करते हैं ।।३२।।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।।३३।।

हे प्रणतजनपालक ! हे परतम पुरुषोत्तम महाप्रभो ! निरन्तर ध्यानयोग्य, अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान-योगादि केवल या विशुद्ध भक्तिके विरोधी मार्गसमूहके पराभवकारी कृष्णप्रेम-प्रद, श्रीगौड़-क्षेत्र-व्रजमण्डलादि सभी तीर्थोंके आश्रयस्वरूप अथवा ब्रह्म-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीमद्आनन्दतीर्थानुगत श्रौत-पथाश्रित श्रीरूपानुग महाभागवतोंके आश्रयस्वरूप शिवावतार श्रीमद् अद्वैतप्रभु एवं ब्रह्माके अवतार श्रीमन्नामाचार्य हरिदास प्रभु द्वारा स्तुत, सभी आश्रित व्यक्तियोंके आश्रययोग्य अपने भृत्य कुष्ठि विप्रकी आर्त्ति या कष्टके नाश करनेवाले, सार्वभौम प्रतापरुद्रादिकी मुमुक्षा-बुभुक्षारूप भवसागरसे दूसरी छोर प्राप्ति करानेके लिए जहाज स्वरूप आपके श्रीपादपद्मोंकी मैं वन्दना करता हूँ ।।३३।।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ट आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।।३४।।

हे महाप्रभो ! (बाहरी दृष्टिसे संन्यास-ग्रहण छलसे) वैधभक्ति धर्म-प्रचारक आचार्यके लीलाभिनयकारी जगद्गुरुरूपसे एवं (अन्तर्दृष्टिसे) रागात्मिक सर्वधार्मिक व्यक्तियोंकी शिरोमणि श्रीराधाजीके कृष्णविरहभावसे विभावित होकर देवता लोगों द्वारा वांछित-प्रद प्राणापेक्षा भी दुष्परिहार्या लक्ष्मीस्वरूपिणी विष्णुप्रियादेवीका या ज्ञान एवं ऐश्वर्यमिश्रा मुक्ति तथा ऐश्वर्यमिश्रा भक्ति तकका परित्यागकर विप्रशाप वाक्यके पालन छलसे चतुर्थाश्रम यतिधर्म स्वीकार कर जिन्होंने कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाशारूपा या धर्मार्थकाममोक्षरूपा मायाके अन्वेषणकारी कृष्णेतर भोग्य विषयमें अभिनिष्ट व्यक्तियोंके प्रति अहैतुकी अमन्दोदया दयाके कारण सर्वत्र स्वाभीष्ट प्राणनाथ गोपीजन-वल्लभका अनुसन्धान किया था या विशाखा समीपमें चित्र-जल्परता एवं उद्घूर्णामयी परम प्रेष्ठा प्रेयसी श्रीराधिकाजीने जिन्हें पानेके लिए अभिलाषा की थी, ह्लादिनी शक्ति स्वरूपिणी श्रीमती राधिकाके अन्वेषणकारी उस श्रीराधारमणका अनुसंधान जिन्होंने विरहिणी गोपियोंके भावसे विभावित होकर किया था, ऐसे आपके पदकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ ॥३४॥

॥ इति श्रीकरभाजनयोगीन्द्रकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीकरभाजनयोगीन्द्रकृत श्रीकृष्णस्तोत्र समाप्त ॥

आत्माकी नित्यवृत्ति

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

हमारी आलोचनाका विषय है—'आत्माकी नित्यवृत्ति।' किसी भी वस्तु-विषयके बारेमें ज्ञान-लाभ दो प्रकारसे होता है। व्यक्तिगत इन्द्रियज धारणा या समष्टिगत (सामूहिक) इन्द्रियज धारणामें आरोहवादके आश्रयमें हमारी इन्द्रियवृत्तिमें वस्तुका जो कल्पित प्रतिफलन है, वह एक प्रकारका ज्ञान होनेपर भी उसकेद्वारा वास्तव सत्य वस्तुका निर्णय नहीं होता। किन्तु वास्तव ज्ञान साक्षात् उस नित्य सत्तावान् वस्तुसे निकालकर हमारे पहलेकी धारणा या ज्ञानका परिवर्त्तन करता है। उदाहरणके लिए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सूर्यके निकटसे आलोक आगमन कर जब हमारी आँखोंकी पुतलियों पर पड़ता है, तब उसके द्वारा सूर्यका जो दर्शन प्राप्त होता है, वही सूर्यसम्बन्धमें वास्तव-ज्ञान है। श्रीमद्भागवतमें वास्तव ज्ञानको ही जानने के लिए कहा है।

इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह वस्तुविषयक ज्ञान नहीं है। जिस प्रकार कालिदास का 'कुमारसंभव' यदि काव्यरसमें अनधिकारी अप्राप्तवयस्क अपरिपक्व बुद्धि किसी बालकके हाथमें पड़ जाय, तो वह इस कविके काव्यकी कोई भी मधुरता जान नहीं सकता। किन्तु वही यदि किसी परिणत-वयस्क परिपक्वबुद्धि काव्यरसमें अधिकारी व्यक्तिकी आलोचनाका विषय हो, तो कविके काव्यकी यथार्थताको जान सकता है। बाहरी जगतका ज्ञान परिवर्त्तनशील या कालक्षोभ्य है। वह अभिज्ञता एवं समयके परिवर्त्तनके साथ-साथ परिवर्त्तन प्राप्त होता है। बालकके ज्ञानसे युवकका ज्ञान अधिक है। युवकके ज्ञानसे प्रौढ़ व्यक्तिका ज्ञान अधिक है, प्रौढ़ व्यक्तिके ज्ञानसे वृद्ध या बुढे व्यक्तिका ज्ञान अधिक है। अस्सी वर्षके बुढेसे एकसौ वर्षके बुढेका ज्ञान अधिक है। एकसौ वर्ष परमायुकी अपेक्षा यदि हजार वर्षकी परमायु एवं उसकी अपेक्षा यदि कोई दस हजार वर्ष अधिक परमायु प्राप्त कर सकें, तो उनका ज्ञान और अधिक हो सकता है। इस प्रकार अनन्तकाल तक जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञान संग्रह कर सकते हैं, उनका ज्ञान उसी परिमाणमें उतना अधिक बढ़ता रहेगा एवं पूर्व-पूर्व ज्ञान वर्त्तमानज्ञान की अपेक्षा क्षुद्र, परिमय, असम्पूर्ण या नाना प्रकारसे अधिकतर दोषयुक्त जान पड़ेगा। इसलिए जो ज्ञान इस प्रकार परिवर्त्तनशील, परिमेय, असम्पूर्ण एवं काल-क्षोभ्य है, उस प्रकारका ज्ञान कदापि हमें वास्तव ज्ञान या अद्वय ज्ञान-तत्त्वका निर्णय नहीं प्रदान कर सकता। इस

प्रकारके ज्ञानका नाम ही अधिरोह-ज्ञान या अक्षज ज्ञान है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे ज्ञान (अधिरोह-ज्ञान) के लिए कहा गया है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदंघ्रयः ॥

अर्थात् हे पद्मलोचन श्रीकृष्ण! आपके भक्तको छोड़कर जो व्यक्ति अपनेको विमुक्त कहकर अभिमान करते हैं, आपके प्रति भक्ति न होनेके कारण उनकी बुद्धि शुद्धा नहीं है। वे शम-दमादि अत्यन्त कठिन छः प्रकारके साधनके फलसे अपनेको जीवन्मुक्त समझने पर भी सर्वाश्रय स्वरूप आपके पादपद्मोंका अनादर कर अधःपतित होते हैं अर्थात् पुनः संसार-दशा प्राप्त करते हैं।

अधिरोहवादीकी यही धारणा है कि उपायकी उपेय वस्तु प्राप्त हो जाने पर उपाय से परित्राण मिल सकता है। उनके उपाय एवं उपेयमें भेद है। उनकी धारणा यह है कि उपाय इतना अधिक अनित्य क्रियाविशेष है कि उपायके हाथसे किसी प्रकारसे परित्राण मिलनेसे ही वे 'बच गये'— ऐसा मन ही मन सोचते हैं। नीचे से ऊपर उठने की चेष्टाका नाम अर्थात् जागतिक ज्ञानका संग्रह कर जागतिक अभिज्ञान एवं इन्द्रिय-सम्पत्ति लेकर ऊपरकी वस्तु देखनेके प्रयास का नाम 'आरोहवाद' है। उसके द्वारा वास्तव वस्तु कई समय कल्पनाके ढाँचेमें काल्पनिक वस्तु रूपसे गठित होकर काल्पनिक ज्ञानका उदय कराता है।

सूर्यसे आलोक निकलकर जब हमारी आँखोंकी पुतलियों पर पड़ता है, तब इसमें कोई बाधा नहीं है। यह निर्बाध या बाधा रहित ज्ञान है। जिस प्रकार पृथ्वीसे बहुत दूरमें अवस्थित होकर भी सूर्य जिस स्थानमें है, उसी स्थानसे ही सूर्यका आलोक निकलने के कारण यथार्थ आलोकका अपलाप या परिवर्त्तन नहीं हो सकता। उसी प्रकार वास्तव ज्ञान हमारे निकट अवतरण कर या उतर कर हमें वास्तव वस्तुका दर्शन कराता है। इसीका नाम 'अवतारवाद' है।

स्वतःकर्त्तृत्व धर्म विशिष्ट वास्तव-वस्तु जब स्वयं ही उनके स्वरूपका प्रपंचमें निर्बाध एवं अविकृतरूपसे दर्शन कराते हैं, तब ही वस्तु-विषयमें वास्तव ज्ञान प्राप्त होता है। इसीका नाम ही अवरोहवाद या अधोक्षज-सेवा-पथ है।

'आत्माकी नित्यवृत्ति' के सम्बन्धमें आलोचना करने पर सबसे पहले हमें 'आत्मा' किसे कहते हैं, इस विषय पर सम्यक् प्रकार से अभिज्ञान प्राप्त करना होगा। 'आत्मा' शब्दके अर्थमें 'मैं' हूँ। इस 'आत्मा' का या 'मैं' का विचार करने जाकर प्रथम मुखमें बाहरी जगतके जीवका यह विचार होता है कि यह परिदृश्यमान क्षिति, अप, तेजः, मरुत् एवं व्योम द्वारा निर्मित स्थूल-शरीर ही 'मैं' हूँ। 'स्थूल देह ही मैं हूँ' ऐसी अनुभूति आने पर हम स्थूल शरीरको ही नाना प्रकारसे सजाया करते हैं। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह मन्त्र-साधन ही उस समय हमारा अनुशीलनीय धर्म हो पड़ता है।

जब हम केवलमात्र स्थूल शरीरको ही 'मैं' न समझकर स्थूल शरीरके मध्यस्थित चेतनकी वृत्तिको अर्थात् स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीरके मिश्र भावको या चिदाभासको 'आत्मा' समझते हैं, तब हम यथार्थ रूपमें सूक्ष्म शरीरको ही 'मैं' कहकर विचार करते हैं एवं नाना प्रकारकी बाहरी क्रिया-कलापादि द्वारा सूक्ष्म शरीरकी उन्नति करनेके उद्देश्यसे यत्न करते हैं। तब हमारा यह विचार उपस्थित होता है— केवल अपने स्थूल शरीर में ही 'मेरापन' आबद्ध न रखकर इस 'मेरापन' का कुछ विस्तार किया जाय। तब हम सोचते हैं कि हृदयको विशाल करना कर्त्तव्य है, परोपकार-व्रत पालन एवं जगद्वासीके स्थूल शरीरका उपकार करना कर्त्तव्य है। स्थूल शरीरकी सेवा-शुश्रूषा एवं रक्षाके लिए दातव्य-चिकित्सालय एवं सेवाश्रम आदि स्थापन करना आवश्यक है, समाजका संस्कार करना कर्त्तव्य है, देशकी स्वाधीनता प्राप्त करना प्रयोजन है, सत्यकथा बोलना कर्त्तव्य है, पाँच व्यक्तियोंको खिलाना-पिलाना एक अच्छा कार्य है, सामाजिक विधि-विधान करना कर्त्तव्य है, अशान्तिका निराकरण करना आवश्यक है, नीतिपरायण होना उचित है। सूक्ष्म शरीरकी उन्नति, परिपुष्टि एवं सन्तोष के लिए विद्याभ्यास, काव्य, व्याकरण, साहित्य अलंकार या दर्शन शास्त्रादिकी आलोचना आवश्यक है। इस प्रकारके नाना प्रकारके चिन्ता-स्रोत एवं क्रिया-कलाप तब हमारी वृत्ति या स्वभाव हो पड़ता है। जब हम स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरको ही 'आत्मा' समझते हैं, तब ये सभी विचार-चिन्ता एवं क्रिया-कलाप आदि हमारी नित्य-वृत्तिके रूप प्रतीत होते हैं।

किन्तु श्रुति एवं तदनुग स्मृत्यादि आदि शास्त्रों में स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को 'आत्मा' नहीं कहा गया है—

१—न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यं शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थात यह जीवात्मा कदापि जन्म नहीं लेता या नहीं मरता अथवा पुनः पुनः उसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती। वह जन्मरहित, सर्वदा एकरूप होनेके कारण नित्य, अपक्षयशून्य, रूपान्तररहित अर्थात् पुरातन होने पर भी नित्य नवीन, एवं देह विनष्ट होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता। क्योंकि इस शरीरके साथ उसके स्वरूप सम्बन्धका अभाव है।

२—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपरानि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण या फटे-पुराने वस्त्रका परित्याग कर दूसरा नया-वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी जीर्ण देहका परित्याग कर दूसरा नया देह धारण किया करता है।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर—ये दोनों उपाधि या अनात्म-वस्तु है। आत्मा अविनाशी एवं

अपरिवर्त्तनशील है । देह और मन परिवर्त्तनशील हैं। मनके धर्ममें परस्पर प्रणय एवं विवाद-विसंवाद या राग और द्वेष वर्त्तमान है। स्वार्थसिद्धिके लिए अर्थात् इन्द्रियतर्पणमें बाधा पहुँचने पर ही विवाद एवं इन्द्रियतर्पणमें बाधा न होने पर ही 'प्रणय' होता है। प्रति मुहूर्त्तमें हम देह और मन का परिवर्त्तन देख पाते हैं—प्रति-मुहूर्त्त ही देहके परमाणुसमूह परिवर्त्तित हो रहे हैं। नव-प्रसूत शिशुका देह, बालकका देह,किशोरका देह, युवकका देह, प्रौढ व्यक्तिका देह, वृद्ध व्यक्तिका देह आदिका रूपगठन परस्पर पृथक् है। हमारे मनकी अवस्था भी प्रतिमुहूर्त्त परिवर्त्तित हो रही है—प्रातः-कालका मन, दोपहरका मन, प्रदोषका मन, रात्रिकालका मन एव निशान्त कालका मन—अवस्थामें परस्पर भेद है। ये स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों उपाधियाँ 'मैं' वस्तुका आवरण कर और कुछ दिखला रही हैं। हम यदि धान्यक्षेत्रमें धान्यके साथ समान रूपसे उत्पन्न श्यामा घास एवं मुस्तक आदि अप्रयोजनीय तृण-लता आदिको दूरसे 'धान्यक्षेत्र' कहकर निर्देश करें, तो उसके द्वारा वस्तुकी यथार्थता निरूपित नहीं हुई। धान्य-क्षेत्रसे फालत पौधोंको उखाड़ देने पर उसे 'धान्य-क्षेत्र' कहनेकी सार्थकता होगी। अचेतन एवं चेतनकी वृत्तिका एकत्र समावेश होकर वर्त्तमान समयमें मिश्र-चेतन भावको हम कई समय 'मैं' समझते हैं। किन्तु चेतन स्वतः कर्त्तृत्व धर्मविशिष्ट है। यदि मन ही 'मैं' होता, तो मन 'मैं जो नहीं हूँ', उसको मुझे प्रतीति क्यों करा रहा है ? मन तो चेतनकी आलोचना नहीं करता। मन तो सर्वदा अचेतन वस्तुके दर्शनमें अपनेको नियुक्त कर रखता है। मन शुद्ध-चेतन धर्म विशिष्ट नहीं है— अचेतन धर्मके साथ सम्यक् संमिश्रण फलके कारण केवल-चेतन धर्मयुक्त वस्तुके दर्शनमें असमर्थ है। आत्मा कदापि अनात्मा का अनुशीलन नहीं करती। आत्मवस्तु-नित्य-वस्तु है, अपरिणामी वस्तु है। मन ही यदि आत्मा या नित्यवस्तु होता, तो मैं एक समयमें मूर्ख, एक समयमें पण्डित, एक समयमें निद्रित एवं एक समयमें जागरुक क्यों रहता हूँ ? आत्मामें कदापि अचेतन-वृत्ति नहीं है।

आत्माकी वृत्ति एकमात्र परमात्माका अनुशीलन है। आत्म-वृत्तिमें दूसरे कोई प्रकार की क्रिया नहीं है। चेतनकी वृत्तिके धर्मके अपव्यवहार फलसे परमात्माको छोड़कर खण्डवस्तुमें ममताके कारण हमारी आत्मा की वृत्ति लुप्त होकर वर्त्तमान है। 'आत्माकी वृत्ति लुप्त है' यह कहना भी ठीक नहीं है। क्यों कि चेतनकी वृत्ति कदापि लुप्त नहीं रहती। चेतनकी वृत्ति सर्वदा क्रियाशील है। तब आत्माकी वृत्तिके द्वारा जब परमात्माका अनुशीलन होता है, तब ही आत्माकी वृत्तिका यथार्थ व्यवहार होता है।

जब आत्मवृत्तिके द्वारा आत्मानुशीलन नहीं होता, तब ही आत्माकी वृत्ति विपरीत हो गयी है, यही जानना होगा। तब भी आत्मवृत्ति वर्त्तमान है, किन्तु अनित्य वस्तुके प्रति धावित हो रही है, केवल इतना ही है। जिस प्रकार 'हम यदि काशी जायेंगे' सोचकर हावड़ा स्टेशनमें उपस्थित न होकर शियालदह स्टेशनमें उपस्थित होकर दार्जिलिंगकी गाड़ीमें चढ़कर बैठें, तो हमारा स्टेशनमें जाना हुआ,

गाड़ीमें चढ़ना हुआ, शरीरिक चेष्टामात्र करना हुआ। किन्तु हमारे गन्तव्य पथमें पहुँचना नहीं हुआ। हमारी आत्माकी वृत्ति सर्वदा क्रियाशील है, किन्तु अनात्मवस्तुमें नियुक्त करनेके फलसे विपरीत धर्म प्राप्त हुई है। आत्माकी वृत्ति वर्त्तमान है, किन्तु उसका केवल अपव्यवहार मात्र हो रहा है। वर्त्तमान कालमें चेतनकी वृत्ति द्वारा दर्शन-स्पर्शनादि क्रियाएँ नश्वर जड़विषयमें निविष्ट हैं। 'मैं' के या मेरे अनुशीलनीय विषय एकमात्र 'परम+आत्मा' हैं। किन्तु वर्त्तमान समय में परमवस्तुका अनुशीलन न होकर अ-परम (अवम या अधम) वस्तुका अनुशीलन हो रहा है। नासिका इस समय दुर्गन्ध ग्रहण कर रही है, आखें इस समय कुरूपका दर्शन कर रही हैं, इन्द्रिय वृत्तिके प्रयोगमें अभी भूल हो जाता है। वर्त्तमान अवस्थामें 'मेरा सुख एवं मैं'—इन दोनोंमें जो मित्रता है,वह कल्पितमात्र है। मैं यदि यथार्थमें सुखका अधिकारी होता, तो मुझे सुख-भोगाधिकारसे कौन वंचित करता? किन्तु स्पष्ट ही देख पाता हूँ कि सुन्दर दाँत, तेज दृष्टिसम्पन्न आँखें आदि सभी ही नष्ट हो जाती हैं। वार्द्धक्य या बुढ़ापेमें स्पर्शशक्ति भी कम हो जाती हैं। मद्य या आसव थोड़े समयके लिए आनन्द प्रदान कर कुछ ही समय पश्चात् आनन्दका अभाव क्यों उत्पन्न कर रहा है?

जो व्यक्ति देह और मनके द्वारा स्थूल एवं सूक्ष्म जगतकी सेवा कर रहे हैं, उनके लिए समुचित दण्ड प्रस्तुत है। वे लोग पुनः पुनः दुःख-सागरमें निमज्जित होंगे। नित्य वृत्तिके अपव्यवहार फलसे ही इस प्रकारकी असुविधा हो जाती है। हमारी ऐसी दुर्दशामें जब कोई महाजन कृपा कर हमारी दुर्दशाकी बात बतला देते हैं, तब हम कायमनोवाक्यसे उस महानुभवका चरणाश्रय करके उनके आनुगत्यमें भगवत् सेवामें उन्मुख होते हैं, तब ही हमारा मंगलोदय काल उपस्थित होता है। अनात्मवृत्तिमें समय नष्ट करना बुद्धिमत्ताका परिचय नहीं देता। स्थूल एवं सूक्ष्म देहके क्रिया-समूह यदि आत्माकी वृत्ति होते, तो सभी कुछ ही हमारे शरीरके साथ साथ जाते। किन्तु हमारी स्थूल एवं सूक्ष्म धारणाएँ हमारी इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य इस जगतमें ही रह जाती हैं।

तब 'आत्माकी वृत्ति' क्या है, इस विषय की अनुसंधान-स्पृहा हमारे चित्तमें उपस्थित होती है। निर्विशेषवादी लोग कहते हैं कि केवल चेतन भाव या चिन्मात्र ही आत्माकी वृत्ति है। अवश्य जिस चिन्मात्रोपलब्धिमें जड़त्वका निरसन या खण्डन कर अप्राकृतत्व स्थापित हुआ है, उस चिन्मात्रमें दोष नहीं है। किन्तु जिस चिन्मात्रमें चित्का विलास नहीं है, उसे 'नास्तिकता' को छोड़कर और कुछ कहा नहीं जा सकता। परमात्माके साथ आत्माके विलीन हो जानेके विचारमें आत्मा की कोई क्रिया नहीं रहती। आत्मा चेतन धर्मयुक्त है। चेतनकी क्रिया अर्थात् चिद्विलास नहीं रहनेसे आत्माका विनाशमात्र होता है। ऐसे काल्पनिक चिन्मात्रके साथ प्रस्तरताका भेद कहाँ है? रूप-दर्शन, घ्राण-ग्रहण, रसास्वादन, त्वक्स्पर्श एवं शब्द-श्रवणादिके

फलसे आनन्दका उदय होता है। जिस स्थान में चेतनकी क्रिया नहीं रहती, वहाँ 'आस्वाद्य' 'आस्वादक' एवं आस्वादन क्रियाकी नित्यता या उसका नित्य अवस्थान नहीं है। वहाँ आनन्द की उपलब्धि कहाँ है? त्रिगुणात्मक 'मैं' दोषयुक्त होने पर भी त्रिगुणातीत 'मैं'— नित्य सत्य एवं उपादेय वस्तु है। उपादेयताके साथ अनुपादेयताका समान विचार करने जाकर यदि उपादेय वस्तुका ही परित्याग कर दिया, तो उस प्रकारकी निष्क्रियावस्था प्रस्तरादि अचेतन जड़ पदार्थमें भी वर्त्तमान है। जड़ीय गुणोंके दोषका निराकरण करने जाकर सद्गुणोंका भी निराकरण करना होगा—ऐसी युक्ति या चेष्टा मूर्खता या आत्मवंचना मात्र है। जिस प्रकार मुझे एक फोड़ा हुआ है। मैंने किसी वैद्यके पास जाकर मेरे फोड़ेकी वेदनासे निष्कृति (शान्ति) पाने के लिए उनसे परामर्श पूछा। उन्होंने मुझे परामर्श दिया—'तुम गलेमें छुरी देना, ऐसा करने पर ही फोड़ेकी वेदनासे चिर-निष्कृति प्राप्त कर सकोगे। फोड़ेका आरोग्य करना ही मेरा प्रयोजन है, आत्मविनाश आवश्यक नहीं है। मायावादी लोग फोड़ेको निरामय करने जाकर आत्मविनाश कर डालते हैं। इस अचिद्वैचित्र्ययुक्त पृथिवीकी असुविधाकी ही चिकित्सा करने की आवश्यकता है। किन्तु इसलिए चिद्वैचित्र्यका नाश या उसे अस्वीकार करना होगा—ऐसा कुविचार मूर्खतामात्र है। भक्त लोग ऐसा परामर्श नहीं ग्रहण करते। 'मैं' की वृत्ति या चेतनकी वृत्ति का नाश करना कदापि विधि नहीं है। 'मैं' जो वस्तु नहीं है, उसका विनाश हो। चेतनकी नित्य-सत्य वृत्ति आत्मविनाशका सर्वप्रकारसे निषेध एवं धिक्कार किया करती है। आत्मविनाश रूप काल्पनिक शान्ति बुद्धिमान व्यक्ति कदापि नहीं चाहते। परमात्माका अनुशीलन ही आत्मा की नित्यवृत्ति है। आरोहवाद द्वारा प्राप्त निर्विशेषता युक्त भाव नास्तिकता मात्र है, वह 'धर्म' शब्द वाच्य नहीं है। वह धर्म को ढक देनेकी बातमात्र है। मैं और जा नहीं सकता, इसलिए जाते जाते जानेकी बातको छिपाकर निर्विशिष्ट भावका वरण करना— एक जागतिक अनुमान द्वारा उत्पन्न कष्ट-कल्पना मात्र है। अनात्म-वस्तुके दोष-समूह को आत्म-वस्तुमें गणना करना, अचिद्विलास के हेयता-समूहको चिद्विलासमें कल्पना करना अतिरिक्त वाक्य-विन्यास या प्रजल्पमात्र है। देह और मनका अनुशीलन कदापि 'नित्य-वृत्ति' शब्दवाच्य नहीं है। 'मैं' वस्तु 'परम मेरे' का अनुसंधान करता है— 'आत्मा' परमात्माका अनुसंधान किया करता है।

जगतकी विचार-प्रणाली लेकर हम बहुत समय तक 'दावा' या 'सट्टा' खेल सकते हैं किन्तु उसके द्वारा वास्तव सत्यकी ओर पहुँच नहीं सकते। आत्माकी कथा द्वारा आत्माका अनुशीलन होता है। छांदोग्य उपनिषद्के 'केन क विजानीयात्' मंत्रमें अनात्म-विचारका खण्डन दिखलाया गया है। अनात्म वस्तुमें जिनका आत्म-विचार उपस्थित हो, उनके अक्षज ज्ञानसे उत्पन्न विचारका खण्डन करनेके लिए या दूर करनेके लिए ही श्रुतिका उक्त मन्त्र है। क्योंकि बृहदारण्यक श्रुतिमें "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः

मन्त्रव्यो निदिध्यासितव्यः'' मन्त्रसे आत्माके द्वारा ही आत्माके अनुशीलन कर्त्तव्यताकी बात कही गई है। मुण्डकोपनिषद्के ''द्वा सुपर्णा'' श्वेताश्वतरके ''अपाणिपादः'' मन्त्र समूह जीवात्मा एवं परमात्माके नित्य सेव्य-सेवक सम्बन्ध एवं भगवानकी अचिन्त्य शक्तिमत्ताका प्रतिपादन किया गया है।

जड़ जगतमें मिट्टीकी एक वस्तु मिट्टीकी दूसरी वस्तुके साथ आलाप नहीं कर सकती एवं मिट्टीकी दो वस्तुएँ एक साथ परस्पर मारपीट कर भग्न हो जाने पर भी कुछ नहीं होता। परमात्मा प्रयोजक कर्त्ता हैं, जीवके तात्कालिक बद्धाभिमान की योग्यताके अनुसार उसे सुख-दुःखरूप फल भोग कराते हैं। तब बद्धजीवके दर्शन में 'जगद्रूपी-भगवान' भोग्य हो पड़ता है। 'ईशावास्य' श्रुति बद्धजीवके हृदयमें जागरुक नहीं रहती। वह सोचता है—''मेरे इन्द्रियतर्पणके लिए ही मेरी जिह्वा बनायी गई है, मेरा मुंह दाँत मत्स्य-मांसादि वस्तु ग्रहण करनेके लिए हुआ है, मेरा उपस्थ मेरी इन्द्रियकी चरितार्थताके लिए हुआ है।'' अनात्मवृत्तिमें 'मैं' बहुतसे स्त्रियोंका पति हूँ, बहुतसे आश्रयोंका 'विषय' हूँ एवं बहुतसे विषयोंका 'आश्रय' हूँ एवं बहुतसे स्थानोंका मालिक हूँ। इस प्रकारकी असद् बुद्धिके वशीभूत होकर मायाबद्ध जीवगण अपनेको 'कर्मफलके भोक्ता' समझकर कर्मकाण्डमें प्रवृत्त होते हैं। इस दुःसंगकी प्रबलताके कारण इन्द्रियतर्पणकी इच्छाके लिए सारा जगत् लालायित है। जहाँ जितने वक्ता हैं, जहाँ जितने धर्मके श्रोता हैं, सभी ही सर्वप्रथम यही जानना चाहते हैं कि उनके व्यक्तिगत इन्द्रियतर्पणकी क्या बात वर्त्तमान है। उनकी अनात्मवृत्तिकी बातके लिए लालायित हैं। 'मेरा भोग', 'मेरा सुख', 'मेरी शान्ति', 'देहि'-'देहि' कलरवसे जगत् परिपूरित है। कोई भी कृष्णके भोगकी बात कृष्णके इन्द्रिय-तर्पणकी बात एकबार भूलकर भी कीर्त्तन नहीं करते। जिस दिन ''हृषीकेश की सेवा करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है'' ऐसा हम समझ पायेंगे, उसी दिन ही हमारा मंगल उपस्थित होगा।

देवता हो मनुष्य हो, भगवानका अनुशीलन ही सभी व्यक्तियोंका एकमात्र कृत्य है। 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं' श्रुतिके मंत्र में पुण्य एवं पापमय कर्मकाण्डका खण्डन किया गया है एवं 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'—श्रीगीतोपनिषद्के इस वाक्यमें 'परम समता' का उपदेश दिया गया है।

''मुक्ताऽपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते''—श्रीसर्वज्ञ मुनिके इस वाक्यका उद्धार कर श्रीधरस्वामीने मुक्तकुलकी भी नित्य सेवापरायणताका प्रतिपादन किया है। जहाँ जितना अस्तित्व या अस्मिता (ममता या मेरापन) है, उन समस्त अस्मिताके द्वारा परम पुरुषकी ही सेवा करना उचित है। हम जो जहाँ अवस्थित हैं, वहाँसे ही हरिसेवा करना हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है। इस जगत् एवं पर-जगतमें देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जितने प्रकारके अस्तित्व या प्राणी हैं, उन सभी के लिए ही भगवानकी सेवाको छोड़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है। दूसरी सभी

क्रियाएँ 'आत्मवृत्ति' शब्द वाच्य नहीं हैं। क्योंकि दूसरी वस्तु या दूसरी वृत्ति निरन्तर बदलती रहती है।

जिस दिन भूलोकसे हमारी चिन्मयी इन्द्रिय वृत्ति गोलोकमें पहुँचेगी, उस दिन हम स्वरूपमें मधुर-रन्ध्रद्वारा कृष्णकी वंशीध्वनि सुनने की योग्यता प्राप्त करेंगे। जिस दिन उस मुरलीध्वनि द्वारा हमारा शुद्धचित आकृष्ट होगा, उस दिन केवल शुद्धसत्वमय हृदयसे व्याकुल होकर अप्राकृत रासस्थलीमें गमन करेंगे। तब प्राजापत्य (सन्तानोत्पत्ति या प्रजापालन) रूप धर्म हमें बांधकर रख नहीं सकेगा एवं लोक-धर्म, वेद-धर्म, देह-धर्म, देहसुख, आत्मसुख, कठिनाईसे त्याज्य आर्य-पथ, निज-स्वजन-परिजनादिका ताडन-भर्त्सन आदि कुछ भी हमारे लिए आकर्षणकी वस्तु नहीं रहेंगी। हम जगतकी सारी प्रतिष्ठाको तृणकी तरह जानकर स्वर्ग सुखादिको आकाश-कुसुमकी तरह निरर्थक जानकर मुक्तिको शुक्ति (सीप) की तरह समझकर अकिञ्चना गोपीका ऐकान्तिक धर्म ग्रहण करेंगे। तब भगवानके श्रीनामकी मधुरिमा श्रीगुरुवाक्यके द्वारा हमारे कानोंमें प्रवेश करेगी। चेतन आखों द्वारा भगवानका श्रीरूप हमारे नयनपथका पथिक होगा। उस परमाश्चर्य रूपसे आकृष्ट होकर हम भगवान्‌की सेवामें नियुक्त होंगे। भगवान् के कथामृतसे मोहित होकर भगवानकी सेवामें आकृष्ट होंगे। बाहरी जगतकी मिलावटयुक्त बात, सड़ी-गली हुई बात, पुरानी बात, हेयधर्म युक्त बात और हमें प्रमत्त नहीं करेगी। हम नित्यवृत्ति प्राप्त कर स्थायी भाव रतिमें आलम्बन एवं उद्दीपन रूप विभाव एवं अनुभावादि सामग्रीके मिलनसे कृष्णभक्ति-रस प्रकटित कर कृष्णेन्द्रिय तोषण करनेमें समर्थ होंगे। सब प्रकारके अनर्थ दूर हो जाने पर जो परम-पीठ प्राप्त होता है, वही श्रीकृष्णपादपद्म है।

आत्मरति पाँच प्रकारकी रतियुक्ता है। पाँच प्रकारकी रतियों द्वारा पाँच प्रकारके रस प्रकाश कर कृष्णसेवा करना ही आत्माकी नित्यवृत्ति है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर— ये पांच रस हैं। शान्त-रस प्रतिकूल भावहीन एक निरपेक्ष अवस्थान मात्र है। दास्य-रस कुछ परिमाणमें ममतायुक्त है। इसलिए तारतम्य विचारसे दास्य-रस शान्त-रसके गुणको लेकर शान्त-रसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। सख्य रस और भी उन्नत है। इसमें दास्य-रसका संभ्रम रूप कन्टक नहीं है, बल्कि उनमें विश्रम्भ रूप प्रधान अलङ्कार वर्त्तमान है। वात्सल्य-रस सख्य-रसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। उसमें ममताकी अधिकता इतने घनीभूत आकारमें वर्त्तमान है कि परम विषय-वस्तु को भी 'पाल्य' या 'आश्रित' के रूपमें ज्ञान होता है। मधुर-रस सर्वश्रेष्ठ है। उसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—इन चार रसोंकी चमत्कारिता पूर्ण रूपसे प्रस्फुटित है। इन पाँच प्रकारकी रतियों से श्रीकृष्णसेवा ही आत्माकी अप्रतिहता अहैतुकी नित्यावृत्ति है। जीवके आत्म-स्वरूप विचारसे हमने सुना है— "जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।"

श्रुतिमंत्रमें जो 'आत्मरतिः', 'आत्मक्रीड़' आदि शब्द देखे जाते हैं, वे इस आत्माकी नित्य

कृष्णसेवा-प्रवृत्तिके लिए ही प्रयोग किये गये हैं। 'रन्ज' धातुसे 'रति' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'रन्ज' धातुका अर्थ 'अनुराग' या 'आकर्षण' है। 'आत्मा' शब्दसे 'मैं'। 'परमात्मा' शब्दसे परम-'मैं' अर्थात् प्राभव एवं वैभव शक्तिपूर्ण कर्त्तृसत्ताके अधिष्ठानमें कृष्णके लिए ही सारे परम-मेरापन का नित्याभिमान है। विषय विचारसे कृष्णका ही परम-'मैं' विचार है, आश्रय विचारसे विभुचैतन्यके अधीन प्रभुके बाध्य अणुचित् 'क्षुद्र मैं' है। 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियाँ यही प्रतिपादन करती हैं। वास्तव वस्तु एक अद्वितीय है। वही 'अद्वयज्ञान-तत्त्व' अर्थात् चिद्विलासकी विचित्रता युक्त अद्वय-तत्त्व है। 'परम-मैं' का या विषय-तत्त्व 'मैं' का स्वार्थ पूरण करना ही नित्याश्रित अस्मिता (मेरापन) की नित्यवृत्ति है। किन्तु इस स्थानमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादने सायुज्य मुक्तिको भी नित्य भक्तिके अन्तर्गत कहकर विचार किया है। उनका कहना है कि सायुज्य मोक्ष प्राप्त करना ही 'मैं' की सालोक्यादि-प्राप्तिकी तरह अन्यतम स्वार्थ है। किन्तु इसमें नित्य-चिद्विलास-विचित्रता अत्यन्त बाधा प्राप्त हो रही है। इसलिए ऐसे विचारकी जड़में हैतुक भाववाद निहित है। शुद्धाद्वैतवादी श्रीविष्णुस्वामी एवं तदनुगत श्रीधरस्वामी के शुद्ध विचारके साथ मायावादी विचारका इस स्थानमें भेद है। श्रीधरस्वामीका यह शुद्ध सिद्धांत न समझकर अज्ञज ज्ञानी व्यक्ति 'भक्त्यंकरक्षक' श्रीधरको भी मायावादी समझकर भ्रान्त होते हैं। शुद्धद्वैत-वादीके तदीय-सर्वस्व भाव एवं विशिष्टाद्वैतवादीके विशिष्ट ब्रह्मवादको लोगोंने समझनेमें भूल किया था। इसलिए सुदार्शनिक शुद्ध-द्वैतवाद के गुरु श्रीमन्मध्वाचार्यका आविर्भाव हुआ था।

नित्य सत्य—वास्तव सत्य—परम सत्य एकमात्र कृष्णदास्यमें ही वर्त्तमान है। रसमय रसिकशेखरकी पादपद्म सेवामें प्रमत्त व्यक्तियों के श्रीचरणोंमें किसी भाग्यबलसे एकबार चिरविक्रीत हो जानेमें समर्थ होनेपर हम भी उस दुर्लभादपि दुर्लभ सेवामें अधिकार प्राप्त करेंगे। ऐसा दिन हम लोगोंका कब होगा ?

श्रीश्रीगौरसुन्दरकी उक्तिसे या कथनसे हम मानव जीवनका कर्त्तव्य जान सकते हैं। उन्होंने जागतिक अभ्युदय (उन्नति) का कोई व्यवस्था-पत्र नहीं प्रदान किया है। उन्होंने जड़ जगतके महत्व एवं प्रतिष्ठाशाको छोड़ देने के लिए कहा है। जिनका महत्व नहीं है, उन को महत्व प्रदान करनेका उपदेश दिया है। दूसरों द्वारा आक्रमण करने पर पेड़की तरह सहिष्णु होकर अक्रान्त होनेके लिए कहा है। उन्होंने 'तृणादपि सुनीच' एवं 'तरोरपि सहिष्णु' होकर कृष्णका सम्यक् कीर्त्तन करनेके लिए कहा है।

चेतो-दर्पणमार्जनं भव-महादावाग्नि-निर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिका-वितरणं विद्या-वधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्॥

'चेतो-दर्पण-मार्जन' शब्दके द्वारा चित्तदर्पणमें कुदार्शनिकके मतवाद एवं कैतव-राशि तथा पहलेके अनर्थ और अभद्र-राशिका

दूरीकरण सूचित हुआ है। श्रीकृष्णका सम्यक् कीर्त्तन होने पर कर्म-ज्ञान-प्रमत्तता रूप महादावाग्निकी जिह्वा निर्वापित या शान्त हो जाती है। श्रीकृष्णका सम्यक् कीर्त्तन चन्द्रकी स्निग्ध ज्योत्स्नाकी तरह हमारे हृदयमें अखिल कल्याण रूप कोमल कुमुदराशिको प्रस्फुटित कर देते हैं। श्रीकृष्णका सम्यक कीर्त्तन—विद्या-वधूके प्राणपति, प्रत्येक पद-पदमें कीर्त्तनकारीकी आनन्दपयोनिधिके वर्द्धनकारी, अप्राकृत पीयूष स्वादप्रदाता, प्रेमविधाता एवं सुपर्णविशिष्ट आत्मविहगमके चिदाकाशमें चिद्विलास सेवा-स्वाधीनता-प्रदाता है।

किन्तु विमुख जगतमें श्रीकृष्णके सम्यक् कीर्त्तनके ग्राहक नहीं हैं। अनात्म-अनुभूतिमें किसी भी प्रकारसे कृष्णसंकीर्त्तनकी प्रयोजनीयताकी उपलब्धि नहीं होती, अन्याभिलाष एवं ज्ञान-कर्मादिका ही अधिक सादर होता है। इस विमुख जगतमें कृष्णका सम्यक् कीर्त्तन होना तो दूर रहा, आंशिक कीर्त्तन तक नहीं होता। अकृष्णके कीर्त्तन को मायाके कीर्त्तनको ही 'कृष्ण-कीर्त्तन' कह कर आत्मवञ्चना एवं परवञ्चना चल रही है। कृष्णनामको छोड़कर इस जगतमें भव-व्याधिके लिए और कोई औषध नहीं है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हरिनामको छोड़कर और कोई गति या पन्था नहीं है। वर्त्तमान समयमें हरिनामका महा-दुर्भिक्ष उपस्थित है। इस समय हरिनाम के द्वारा, कृष्णके द्वारा उदरभरण, प्रतिष्ठाशा-कामिनीसंग्रह, रोग-निरामय, देशकी सुविधा, समाजकी सुविधा कराने लेनेके लिए सभी ही व्यस्त हैं। किन्तु हरिनाम जड़-भोगके यन्त्र या मुक्तिलाभके यन्त्र नहीं है। वर्त्तमान समयमें कृष्णके प्रति भोगबुद्धिपरायण व्यक्ति लोग नामापराध करनेके लिए बहुत ही व्यस्त हैं। आठ पहर नाम-कीर्त्तन करनेके पश्चात् फिरसे खाने-पीने रहनेकी बात, फिरसे वाद विसंवादकी बात, फिर इन्द्रियतर्पणकी बात-होने पर उसे और 'अष्टप्रहर' कीर्त्तन कहा नहीं जा सकता। निरन्तर हरिनाम ग्रहण ही 'आठ प्रहर कीर्त्तन' है। नामापराध ग्रहण कदापि 'आठ पहर कीर्त्तन' नहीं है। नामापराधका फल भुक्ति है। वर्त्तमान समय के विकृत 'आठ पहर कीर्त्तन' में हरिनाम या वैकुण्ठ नामका कीर्त्तन नहीं होता,बल्कि माया के नामका ही कीर्त्तन होता है। शुद्धनाम कीर्त्तनके फलसे कृष्णकी प्रीतिका उदय अवश्यंभावी है। वर्त्तमान समयमें मायाके संकीर्त्तनको 'कृष्ण-संकीर्त्तन' कहकर जगतमें प्रवंचना या छलना चल रही है। इस प्रवंचना से कोमलश्रद्ध व्यक्तियोंका उद्धार करना एकांत प्रयोजन है।

भगवान् विष्णु त्रिशक्तिधृक् हैं। वेदोंका कहना है—"त्रेधा निदधे पदम्।" 'अन्तरङ्गा', 'बहिरङ्गा' एवं तटस्था—ये तीनों शक्तियाँ ही विष्णुके तीन पद हैं। हम भगवानकी इन तीनों शक्तियोंको भूलकर भगवानका त्रिविक्रमत्व समझ नहीं पा रहे हैं। कृष्णको हमारी इन्द्रियोंके ज्ञानगम्य समझकर

नामापराध कर रहे हैं, उससे हमारा कोई मंगल नहीं हो सकता। कृष्णनाम-संकीर्त्तनमें कृष्णका इन्द्रिय-तोषण होता है। उससे अमुक बड़े व्यक्ति, अमुक अर्थदाता, अमुक देवता प्रसन्न होंगे, ऐसा नहीं। कृष्ण-वस्तुको हड़पने की चेष्टा—मायाबद्ध जीवोंके निकट माया या भोगके उपकरणोंको जड़ेन्द्रियके निकट अग्रसर कर देना मात्र हुआ।

और एक श्रेणीके व्यक्तिका मत है—"भगवानके हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक,सब शरीर काट दो, भगवान्‌के समस्त भोग छीन लो; जो कुछ भी भोगके यन्त्र या भोगके उपादान हैं, वे मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष-राक्षस-पिशाचादिके लिए ही बनाये गये हैं।"

किन्तु 'भोग' एवं 'त्याग' दोनों ही वृत्तियाँ ही विष्ठाकी ताजी एवं सूखी अवस्थाएँ हैं। दोनों ही नित्य कल्याणार्थीके लिए परित्याग करने योग्य वस्तुएँ हैं। 'कृष्ण' एक ऐतिहासिक पुरुष हैं, 'कृष्ण' मेरी इन्द्रियतर्पणकी वस्तु हैं' ऐसी बुद्धि द्वारा कृष्ण भजन नहीं होता, मायाका भजन होता है। 'अहं' 'मम' बुद्धि लेकर कोटि कोटि वर्षों तक ऊँचे स्वरसे नामापराध कीर्त्तन कर पित्त-वृद्धि करने पर भी श्रीनाम प्रभुकी कृपा प्राप्त न होगी या प्रेमफल प्राप्त नहीं होगा—

बहु जन्म यदि करे श्रवण-कीर्त्तन।
तबू त ना पाय कृष्णपदे प्रेमधन॥
(चै०च०आ० ८म प०)

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिंधुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(भक्त्यानुकूल्य)

(पूर्वप्रकाशित १८ वर्ष, १२ संख्या, पृष्ठ २७८ से आगे)

२३-धैर्य किसे कहते हैं? छः वेगोंको क्या भजनके अनुकूल किया जा सकता है?

"छः प्रकारके वेगका दमन करना ही 'धैर्य' कहते हैं। शरीर रहते रहते ये सभी प्रवृत्तियाँ एकदम नष्ट नहीं होतीं। किन्तु यथायोग्य विषयमें उन्हें नियुक्त कर सकने पर वे और दोष-जनक नहीं होते।"

—'धैर्य' स० तो० ११।५

२४-किस प्रकारका धैर्य हरिभजनका अनुकूल है ?

"साधन-समयमें काल-विलम्ब होते देख कर अधैर्य हो जानेके कारण कोई कोई व्यक्ति परमार्थसे विच्युत हो जाते हैं। अतएव फलकी आशा कर भी जो भजनप्रयासी व्यक्ति धैर्यका अवलम्बन करते हैं, उन्हें ही फल प्राप्त होता है। कृष्ण मुझपर अब या एक सौ वर्ष पीछे या किसी जन्ममें अवश्य कृपा करेंगे। मैं दृढ़ताके साथ उनका चरणाश्रय ग्रहण करूँगा, कदापि नहीं छोड़ूँगा।' इस प्रकार का धैर्य भक्तिसाधकोंके लिए परम वांछनीय है।"

—'धैर्य' स० तो० ११।५

२५ किस प्रकारका आहार भजनका अनुकूल है ?

"जो कुछ अनायास ही मिल जाय, उसीके द्वारा उदर-पूर्त्ति करना उचित है। सात्विक द्रव्य कृष्णको निवेदन कर उनका प्रसाद सेवन करनेपर जिह्वाकी परितृप्तिके साथ कृष्णका अनुशीलन होता है।"

—'धैर्य' स० तो० ११।५

२६ व्यवहार एवं परमार्थ किस प्रकार भजनानुकूल होते हैं ?

"व्यवहारिक एवं पारमार्थिक जितने प्रकारकी चेष्टाएँ हैं, वे सभी चेष्टाएँ श्रीकृष्ण उद्देश्यसे करना ही मंगलजनक है।"

—'तत्तत्कर्मप्रवर्त्तन' स० तो० ११।६

२७ यथायोग्य विषय-स्वीकार भजनानुकूल क्यों है ?

"जीवनके समस्त व्यवहारमें भक्तिसाधनके प्रयोजनके अनुसार अर्थ स्वीकार करो। अधिक आशा करनेसे भक्तिका लोप हो जायगा और आवश्यकतानुसार विषय स्वीकार न करने पर भक्तिसाधनमें कमी आ जायगी।"

—'तत्तत्कर्मप्रवर्त्तन स०तो० ११।६

२८ हरिभजनका अनुकूल संसार या कृष्ण-संसार किस प्रकार का होता है ?

"कृष्ण-संसारका पत्तन करनेके लिए ही विवाह है। कृष्ण सेवक बढ़ानेके लिए संतान-चेष्टा है। कृष्णदासोंकी तृप्तिके लिए पितृश्राद्धादि क्रियाएँ हैं। कृष्णके सभी जीवोंकी तृप्तिके लिए भोजन-महोत्सव है। इस प्रकार सभी कर्मोंको ही कृष्ण-सेवाके अनुकूल करना होगा। ऐसा होनेपर और बहिर्मुख कर्मकाण्डमें न पड़ना होगा। 'देह-गेह सभी कुछ कृष्णके हैं' इस बुद्धिसे देहरक्षा, गृहरक्षा एवं समाज-रक्षा करना—इसीका नाम कृष्ण संसार है।"

—'तत्तत्कर्मप्रवर्त्तन' स० तो० ११।६

२९ साधुसंग एवं वैष्णव व्रतादि पालन की आवश्यकता क्या है ?

"संस्कारासक्ति परित्याग करने लिए साधुसंगकी नितान्त रूपसे आवश्यकता है। द्रव्यासक्ति दूर करनेके लिए उनके लिए वैष्णव व्रत समुदाय पालन करना आवश्यक है। इन सभी कार्योंको जैसे-तैसे अवहेलासे करना उचित नहीं है। परन्तु विशेष यत्नाग्रहके साथ आदरपूर्वक करना आवश्यक है। आदरपूर्वक न करने पर कुटीनाटिरूप

कपटता आकर सभी कार्योंको निष्फल कर देती है। इस विषय जो लोग आदरकी चेष्टा नहीं करते, अनेक जन्म श्रवण करने पर भी उनके लिए श्रीहरिभक्ति सुदुर्लभ हो पड़ती है।"

—'संगत्याग' स०तो० ११।११

३०– चातुर्मास्य-व्रत भक्तिका अनुकूल क्यों है ?

"तीन दिन संगका रोध करते करते एक मासव्यापी एवं चार मास व्यापी व्रतके द्वारा संगको निर्मूल कर उस-उस द्रव्यके व्यवहारसे चिरकालके लिए विदाई लेनी होगी।"

—'संगत्याग', स०तो० ११।११

३१– कैसा विचार लेकर गृहवास एवं गृहत्याग करना कर्त्तव्य है ?

"भक्तके लिए यदि गृह भजनका अनुकूल हो, तो उसके लिए गृह-त्याग करना उचित नहीं है। वैराग्यका अवलम्बन कर गृहस्थ रहना ही उसका कर्त्तव्य है। तब यदि गृह भजनका प्रतिकूल हो, उस समय ही गृहत्याग का अधिकार प्राप्त होता है। उस समय गृहके प्रति जो विराग होता है, वह भक्तिजनित होनेके कारण सब प्रकारसे ग्रहणीय है। इस विचारसे ही श्रीवास पण्डितने गृह-त्याग नहीं किया। इस विचारसे ही श्रीस्वरूप दामोदरजी ने संन्यास नहीं ग्रहण किया। सभी निष्कपट भक्तोंने इस विचारके द्वारा गृहमें या वनमें वास किया था। इस विचारसे जिन व्यक्तियों ने गृहत्याग किया, वे गृहत्यागी निष्कपट भक्त हैं।"

—'साधुवृत्ति', स० तो ११।१२

३२– गृहस्थ वैष्णव कौनसे उपाय द्वारा जीविका उपार्जन करें ?

"गृहस्थ वैष्णव स्वधर्मके अनुसार जीविका-निर्वाहके लिए अर्थ-संचय करें। किसी पाप कार्य द्वारा अर्थ-संग्रह न करें।"

—'साधुवृत्ति', स० तो० ११।१२

३३– सद्वृत्ति-जिज्ञासु व्यक्ति किनका अनुसरण करें ?

"सद्वृत्ति क्या है, यह जाननेके लिए श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके अनुगत व्यक्तियोंका आचरण देखना होगा।"

—'साधुवृत्ति', स० तो० ११।१२

३४– विषय-बन्धनका किस प्रकार क्षय होता है ?

"कृष्णभक्तिके जो अनुकूल हो, केवल उन्हें ही स्वीकार करने पर भक्तिका अनुशीलन होगा एवं क्रमशः विषय बन्धनका क्षय हो जायगा।"

—'श्रद्धा और शरणागति' स०तो० ४।९

३५– आँखों द्वारा किस प्रकार भगवदनुशीलन होता है ?

"आँखोंको भक्तिके अनुकूल करना हो, तो श्रीमूर्ति-दर्शन, वैष्णव-दर्शन, भगवानके लीला स्थानोंकी विविध शोभा-दर्शन एवं लीला-प्रतिकृति आदि दर्शनव्रत ही एकमात्र उपाय है। जो कुछ भी आँखोंका विषयीभूत होता है, उसमें भगवानका सम्बन्ध दर्शन करना ही मूल प्रयोजन है।"

—'श्रद्धा और शरणागति', स०तो० ४।९

३६- कानों द्वारा किस प्रकार भक्तिका अनुशीलन होता है ?

"कानोंको भक्तिके अनुकूल करना हो, तो हरिकथा, भक्तिकथा एवं हरिसम्बन्धिनी विषयकथाका श्रवण-व्रत ही एकमात्र उपाय है।"

—'श्रद्धा और शरणागति' स०तो० ४।९

३७- नासिकाको किस प्रकार भक्तिके अनुकूल किया जा सकता है ?

"नासिकाको भक्तिके अनुकूल करना हो, तो श्रीकृष्णार्पित तुलसी पुष्पचन्दन एवं अन्यान्य सुगन्ध-द्रव्यादिका घ्राण-ग्रहण-व्रत ही एकमात्र उपाय है। जो कुछ गन्ध ग्रहण करना हो, उसे कृष्ण सम्बन्धके साथ ग्रहण करना उचित है।"

—'श्रद्धा और शरणागति', स०तो० ४।९

३८- जिह्वाको किस प्रकार भक्तिके अनुकूल किया जा सकता है ?

"रसना या जीभको भक्तिके अनुकूल करना हो, तो श्रीकृष्ण प्रसाद एवं भक्त-प्रसाद-सेवन-व्रत ही एकमात्र उपाय है। प्रसाद-सेवाके समय भोगसुखकी बात मनमें नहीं रहती, बल्कि केवल जीवन-नाथ श्रीकृष्ण के भोगसुखका ही स्मरण होता है। प्रसाद-सेवामें अपना भोग-सुख स्मरण करने पर और अनुकूलताका भाव नहीं रहता।"

—'श्रद्धा और शरणागति', स० तो० ४।९

३९- शरीरको भक्तिके अनुकूल करना हो, तो उसके द्वारा क्या करना उचित है ?

"हस्त-पदादि-शरीरको भक्तिके अनुकूल करना हो, तो उस उस इन्द्रिय या शरीरके द्वारा भगवत् सेवा एवं वैष्णव-सेवा करना ही एकमात्र उपाय है।"

—"श्रद्धा और शरणागति', स० तो० ४।९

४०- पारमार्थिक नाम एवं उपाधि क्या भक्तिके अनुकूल नहीं है ?

"श्रीमन्महाप्रभुजीके समयमें उनकी प्रकटलीलाके अवसर पर 'रत्नबाहु', 'कविकर्णपूर', 'प्रेमनिधि' आदि पारमार्थिक नाम देखे जाते हैं। परवर्ती भक्त लोग भी 'भागवतभूषण', 'गीताभूषण' आदि नाम प्राप्त करते आ रहे हैं।"

—'पञ्चसंस्कार', स० तो० ४।१

४१- भक्तिके अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयमें महाजनोंका चित्त किस प्रकारकी अवस्था प्राप्त करता है ?

"भजनके अनुकूल विषयमें महानुभावका चित्त पुष्पकी तरह कोमल है। भजनानुकूल विषय, द्रव्य, काल, पात्र एवं देशको देखने पर महानुभावका चित्त द्रवित होता है। भजनके प्रतिकूल विषय, द्रव्य, काल, पात्र और देश देखने पर महानुभावका चित्त वज्रकी तरह कठिन होता है। उन सभीको वे किसी भी प्रकारसे स्वीकार नहीं करते।"

—'वैष्णव-स्वभाव' स० तो० ४।११

४२- कथा, गीत, काव्यादि किस प्रकार भक्तिके अनुकूल होते हैं ?

"व्यवहारिक कथा-आलाप, गीत एवं

काव्यादि कृष्ण सम्बन्ध युक्त कर पाने पर अनुकूलताकी सिद्धि होती है।"

—'श्रद्धा और शरणागति', स०तो० ४।९

४३– हरिभजनके उपदेशकालमें परचर्चा क्या भक्तिके अनुकूल हो सकती है ?

"जब गुरु शिष्यको विषयकी बात भली प्रकार समझानेके लिए उपदेश प्रदान करते हैं, तब थोड़ी थोड़ी परचर्चा न करने पर उपदेश परिस्फुट नहीं होता। पूर्व महाजनोंने जिस प्रकारकी रीतिसे वैसी परचर्चा की है, उसमें गुणको छोड़कर दोष ही नहीं है।"

—'प्रजल्प', स० तो० १०।१०

४४– हरिभक्तिसाधक प्रजल्प क्या अनिष्टकर है ?

"सभी महाजनोंने हरिभक्तिसाधक प्रजल्प का आदर किया है।"

—'प्रजल्प', स० तो० १०।१०

४५– किस किस उद्देश्यसे परालोचना दोषजनक नहीं है ?

"सत्-उद्देश्यके साथ परदोषकी जो आलोचना हो, वह शास्त्रों में निन्दित नहीं हुई है। सत्-उद्देश्य तीन प्रकारका है। जिस व्यक्तिका पाप लेकर आलोचना की जाय, उससे यदि उसके कल्याणका उद्देश्य हो, तो वह आलोचना मंगलकारी है। जगतके मंगल-साधन करनेके लिए यदि पापीकी आलोचना हो, तो वह शुभकार्यमें परिगणित है एवं अपना मंगल करनेके लिए यदि वह आलोचना हो, तो उसमें गुणको छोड़कर दोष नहीं है।'

—'वैष्णव-निन्दा', स० तो० ५।५

४६– किस प्रकार कर्मका अनुष्ठान करने पर भक्तियोग होता है ?

"कर्मके बिना जब जीवन-चर्याका निर्वाह ही नहीं होता, तब जीवनरक्षक कर्म करना कर्त्तव्य है। किन्तु वह कर्म यदि बहिर्मुख रूपसे किया जाय, तो मनुष्यत्वका परित्याग करना हुआ एवं पशुत्वका उदय होता है। अतएव सभी शारीरिक कर्मों को भगवद्भक्तिके अनुकूल कर लेने पर भक्तियोग होता है।'

—'अत्याहार, स० तो० १०।९

४७– विषयको किस प्रकार ग्रहण करने पर अत्याहार नहीं होता ?

"विषय-भोग कहकर विषयका ग्रहण करने पर अत्याहार होगा। किन्तु भगवत्प्रसाद समझकर यथा-प्रयोजन भक्तिके अनुकूल रूपसे जो विषय-ग्रहण कार्य हो, वह अत्याहार नहीं है।"

—'अत्याहार,' स० तो० १०।९

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद
श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

संदर्भ-सार

(भक्तिसंदर्भ-२८)

श्रीभरतका मृग शरीर त्याग करते समय हरिनाम ग्रहण करने पर भी जो फिर से देह प्राप्ति हुई थी, वहाँ भी साक्षात् भगवत्प्राप्ति ही हुई थी। क्योंकि ऐसे पुरुषोंके चित्तमें भगवान् सर्वदा आविर्भूत होकर वर्त्तमान हैं। इसी प्रकार श्रीअजामिलका पूर्वशरीर-अवस्थानदशामें भी जानना होगा। अतएव मरणकालीन एकबारमात्र भजन ही जो मृत्युके पश्चात् भी कृतार्थता उत्पादन करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतएव भागवतमें (२।१।६) में कहा गया है—

एतावान् सांख्य योगाभ्यां स्वधर्मपरनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥

स्वधर्म-निष्ठा, सांख्य, योगद्वारा मरण समयमें जो नारायणकी स्मृति होती है, वह पुरुषोंके जन्मका परम लाभस्वरूप है। यह सांख्यादि द्वारा साध्य होनेके कारण पृथक् रूप से सांख्यादिके लाभत्वका निषेध किया गया है। अन्तकालमें स्मृति ही परम लाभ है।

अतएव अजामिल जीवित दशामें दूसरे समय भी पुत्रका आह्वान कर गौण रूपसे नारायणका नाम ग्रहण करनेके कारण पहले नाम-ग्रहण फलसे ही सभी पापोंसे विमुक्त हो गया था। तथापि मरण कालीन यह नाम ग्रहण वतान्त केवलमात्र उनकी प्रशंसाके लिए ही जानना होगा अर्थात् मरणकालमें भी वह नामग्रहणमें समर्थ था। उक्त स्थलमें विष्णुदूतोंके वचनोंद्वारा भी जाना जाता है—

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतिम्।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत्॥
(भा० ६।२।१३)

इस अजामिलने मरणकालमें भी भगवानका नाम ग्रहण किया है। अतएव इसके अशेष (सम्पूर्ण) पाप नष्ट हो गये हैं। इसलिए तुम लोग इसे यमलोकमें मत ले जाओ। यहाँ अशेष 'शब्द' द्वारा वासना तक एवं 'अघ' शब्द द्वारा अपराध तक सभी पाप-रोधक हुआ है। मरणकालमें सभीके दैन्यादि भी भगवत्कृपाके कारणसे ही जानना होगा।

यहाँ अधिकारी विशेषको प्राप्त होकर ही श्रीकृष्णनामादिका तत्तत्फलोत्पत्ति देखी जाती है। पहले भी ऐसा ही कहा गया है—

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम्।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः॥
(भा० ११।६।४४)

हे कृष्ण! आपके लीलाचरित्र समूह मनुष्योंके परम मङ्गल स्वरूप एवं श्रवणमें अमृतस्वरूप होनेके कारण उनका आस्वादन-कर जीवोंकी दूसरी स्पृहाएँ दूर हो जाती हैं।

अतएव—

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभामतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥

हे पुरुषोत्तम ! कृतपुण्य आपके भक्तोंमें क्रोध, मत्सरता, लोभ या दूसरी कोई अमंगल प्राप्तिकी मति नहीं होती ।

जातप्रेम पुरुषका प्राप्तिस्थलमें उदाहरण—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखांभोज-च्युतं हरिकथामृतम् ॥
(भा० १०।१।१३)

हे मुनिवर ! मैंने यद्यपि इस समयमें जलपान तक परित्याग कर दिया है, तथापि आपके मुखपद्म विगलित हरिकथामृत पानके कारण अत्यन्त दुःसहनीय क्षुधा (भूख) भी मुझे अपने अधीन नहीं कर पा रही है ।

इस प्रकार जिस किसी प्रकारसे अनुष्ठित भजन एवं सम्यक् रूपसे अनुष्ठित भजनका विषय व्याख्यात होने पर साक्षात् भक्ति भगवदर्पित धर्मादि द्वारा साध्या होती है । वह स्वयं ही सिद्धि प्रदान करनेमें समर्था एवं लेश या आभास मात्रद्वारा ही परमार्थ तक प्राप्त कराती है । यही सभी वर्णोंका परम धर्म स्वरूप है । इसको छोड़कर दूसरे-दूसरे सभी साधन अकिंचित्कर हैं । दूसरे साधनोंकी अपेक्षा नहीं होनेके कारण इसीकी अनन्यता सर्वप्रसिद्ध है ।

श्रीमद्भागवद्गीतामें भी कहा गया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९।२२)

जो व्यक्ति अनन्य भावसे मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, उन नित्ययोगी व्यक्तियोंका योगक्षेम अर्थात् अन्नादिकी व्यवस्था मैं ही वहन किया करता हूँ । और जो व्यक्ति श्रद्धाके साथ दूसरे देवताओंकी आराधना करते हैं, वे लोग अविधिपूर्वक मेरी ही आराधना करते हैं । इन अव्यवहित (एक दूसरेके पश्चात्वर्ती) दोनों वचनों द्वारा यह जाना जाता है कि अन्वय एवं व्यतिरेक क्रमसे दूसरी उपासना रहित भगवान्की उपासना ही अनन्य उपासना है ।

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्" अर्थात् सुदुराचार व्यक्ति भी यदि मेरा अनन्यभावसे भजन करें" आदि वाक्यों द्वारा यही बात स्वीकार की गई है । इसका अत्यन्त दुर्बोधत्व एवं अत्यन्त दुर्लभत्व भी कहा गया है । यथा—

धर्मन्तु साक्षाद्भगवत् प्रणीतं
न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
(भा० ६।५।१९)

यह भागवत धर्म स्वयं भगवान द्वारा निर्णीत है । देवता या ऋषि लोग तक भी इसका तत्त्व अवगत नहीं हैं । और भी कहा गया है—

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सहधर्मं यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्य मूष्य
सम्मोहिता चिततया यत मायया ते ॥
(भा० ३।१५।२४)

जो व्यक्ति तत्त्वज्ञानके साथ धर्मके

आधारभूत एवं हमारे लिए भी वांछनीय मनुष्य जन्म प्राप्त होकर भी भगवदाराधना नहीं करते, वे निश्चय ही उनकी विशाल मायाद्वारा मोहित हैं।

इस प्रकार श्रवणादि भक्ति ही सर्वविघ्नों का विनाश कर साक्षात् रूपसे भगवत्प्रेम रूप फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं। एवं वह अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए दूसरी कामनाओंको अभिधेय कहा नहीं जा सकता।

तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया।
एकान्तभक्त्या को वांछेत् पादमूलं बिना बहिः॥
(भा० ४।२४।५५)

इति तस्मात्रकामनायांच भक्तेरेवाकिञ्चनत्वकामत्वञ्च संज्ञापितम् ॥

हे भगवन्! सुदुर्लभ एकान्तभक्तिके साथ सज्जन व्यक्तियोंके भी दुराराध्य आपकी आराधना कर कौनसा व्यक्ति आपके पादमूल को छोड़कर दूसरे विषयकी कामना कर सकता है? इस वाक्यमें भक्तिमात्र कामना स्थलमें भी भक्तिका ही अकिंचनत्व एवं अकामत्व कहा गया है। इस विषयमें प्रमाण—

मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिंचनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥

अर्थात् जो व्यक्ति स्वर्ग एवं मोक्षफलके अधिपति परम पुरुष मेरे निकट कुछ भी प्रार्थना नहीं करते, ऐसे निष्किंचन मेरे भक्तों के लिए दूसरे देवताओंके निकट क्या प्रार्थनीय वस्तु हो सकती है? अर्थात् कुछ भी नहीं प्रार्थनीय है।

गजेन्द्रका भी ऐसा ही वचन है—

एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थं
वांछन्ति ये वै भगवत्प्रसन्नाः ॥
(भा० ८।३।२०)

जो व्यक्ति एकान्त भावसे भगवान के शरणागत हैं, वे लोग उनके निकट और कोई भी पुरुषार्थ कामना नहीं करते। श्री प्रह्लाद महाराजने भी श्रीनृसिंहदेवजीके निकट किसी भी वैसे वरके लिए प्रार्थना नहीं की। उन्होंने कहा है—

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वंच स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥
(भा० ७।१०।५-६)

जो व्यक्ति स्वामीके निकट स्वार्थ कामना करते हैं, वे वस्तुतः सेवक नहीं एवं जो स्वामी भृत्यसे प्रीति पानेकी कामनासे उनकी कामना पूरण करते हैं, वे वस्तुतः प्रभु नहीं हैं। मैं आपका कामनाशून्य भक्त हूँ एवं आप भी प्रभुत्व पानेके लिए अभिलाषी नहीं हैं। इसलिए हमारा प्रयोजन राजा और उनके भृत्यके प्रयोजनकी तरह परस्परका स्वार्थ स्वरूप नहीं है। अतएव कहा गया है—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।

यदयज्ञनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥
(भा० ७।९।११)

विशेषकर प्रभु अपने लाभमें पूर्ण होनेके कारण अविद्वत् जनसे कदापि अपना मान नहीं चाहते। परन्तु मुखमें अद्भुत चित्रादिकी शोभा जिस प्रकार दर्पण स्थित प्रतिबिम्बमें देखी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य लोग भगवानके उद्देश्यसे जो सभी पूजादि किया करते हैं, वे अपनी आत्माके सन्तोषके लिए ही होती हैं।

वे अपने लाभसे ही सन्तुष्ट हैं। पूजादि विषयमें भक्तको जो कष्ट होता है, उस विषयमें वे असहिष्णु हैं। परन्तु किस प्रकारके व्यक्तिके निकट प्रार्थना नहीं करते—अविद्वान् अर्थात् पिताके समीप जिस प्रकार पुत्र अज्ञ है, उसी प्रकार उनके निकट जो अज्ञ है, ऐसे व्यक्तिके निकटसे। स्वयं भी ऐसे व्यक्तियोंमें अन्यतम होनेके कारण प्रह्लाद महाराजजीने दैन्य प्रकाश किया है। अथवा अविद्वान् अर्थमें भगवद् आवेशके कारण कोई भी विषय अवगत नहीं हैं। दोनों अर्थोंमें ही यह अविद्वाभाव भगवानके कारुण्यके कारण हुआ करता है। ऐसा होनेके कारण क्या मनुष्य लोग उनकी पूजा नहीं करते? इस आशंकासे कह रहे हैं—भक्तजन उनके उद्देश्यसे जो जो पूजाका अनुष्ठान करते हैं, वह अपने लिए ही हुआ करती है अर्थात् भगवान्‌के सम्मानके कारण ही अपना सम्मान समझकर सुख अनुभव कर उनकी पूजा किया करते हैं। भगवद्गत-प्राण व्यक्तिके लिए भगवानके सम्माननसे ही जो अपना सम्मान होता है उसका उदाहरण दिया जा रहा है—मुखकी जो शोभा की जाती है, वह प्रतिबिम्बकी शोभाके लिए ही होती है, परन्तु दूसरी कोई वस्तु प्रतिबिम्बके लिए शोभाजनक नहीं होती।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव
श्रौती महाराज

वर्ष-प्रारम्भमें निवेदन

कलियुग पावनावतारी स्वयं भगवान् श्रीश्रीशचीनन्दन गौरहरिकी अहैतुकी कृपासे श्रीभागवत-पत्रिकाके १८ वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। श्रीपत्रिका अपने १९वें वर्षमें पदार्पण कर रही है। यद्यपि वर्त्तमान समयमें जड़ विज्ञान अपने बाहरी आडम्बर और चाकचिक्यपूर्ण लुभावने साज-सज्जा आदिके द्वारा भौतिकवाद को प्रचुर बढ़ावा दे रहा है तथा मनुष्य समाज को शाश्वत सुख-शान्ति एवं अजस्र सुविधाएँ प्रदान करनेका दावा कर रहा है, किन्तु वह

अपनी प्रतिज्ञाओंको पूर्ण करनेमें असमर्थ ही होता जा रहा है एवं उसका खोखलापन सब ओरसे प्रकट हो रहा है । समस्याओंका समाधान होनेके बदले वे और भी जटिल बनती जा रही हैं एवं नयी नयी समस्याएँ, जिनके बारे कोई धारणा ही कर नहीं पाता था, पनपती जा रही हैं । मनुष्य समाज देवत्व की ओर बढ़नेके बदले क्रमशः पशुत्वकी ओर अपने कदम बढ़ाये जा रहा है । दिनों दिन सभी वर्गके मनुष्य अपने विचार-बुद्धि चाल-चलन, व्यवहार आदिमें संकीर्ण बनते जा रहे हैं । निःस्वार्थ होनेके बदले मनुष्य और भी अधिक अपस्वार्थपरायण एवं विवेकहीन बनते जा रहे हैं । जड़ विज्ञान सृष्ट्यात्मक कार्य करनेका केवल दम्भ मात्र भरता है, किन्तु यथार्थमें वह जगत् विनाशकारी कार्य एवं हिंसाको ही प्रकारान्तरसे प्रोत्साहन दे रहा है ।

धर्म, जो कि मनुष्य जीवनका प्रधानतम अङ्ग है, उसकी भी तिलाञ्जलि देनेका अथवा प्रयास आजकल शिक्षित एवं सभ्य कहे जानेवाले व्यक्तियोंमें देखा जा रहा है । कभी न सफल होनेवाले असंभव कार्य करनेकी कष्ट कल्पना की जा रही है । धार्मिक व्यक्तियों एवं धार्मिक संस्थानों पर तरह-तरहसे कुठाराघात किया जा रहा है । धर्मकी मनमानी एवं अपनी क्षुद्र धारणाके अनुसार अर्थ कर जनसाधारणकी धार्मिक भावनाओं एवं मान्यताओंको ठेस पहुँचाया जा रहा है । साधारण नीति एवं विचार तक भी क्रमशः लुप्त होते जा रहे हैं । वर्त्तमान मनुष्यका लक्ष्य जैसे-तैसे अपनी सुख-सुविधा एवं क्षणिक स्वार्थकी पूर्त्ति करना ही रह गया है । आजकलके अपस्वार्थपर व्यक्ति लोक-परलोककी यातना या राजदण्डका भी भय बिसार चुके हैं । परहिंसा, प्राणी-वध, परस्त्रीकातरता, दूसरों को नीचा दिखाना, क्रूरता आदि कार्य सर्व-साधारण सी बन गई है ।

ऐसी विकट एवं अन्धकारपूर्ण परिस्थिति में भी शुद्ध भक्त लोग अपने मार्ग पर दृढ़ हैं एवं अपने सत्य संकल्पकी पूर्त्तिके लिए कृतप्रतिज्ञ हैं । वे भगवानके अशोक-अभय-अमृत पादपद्मोंका असीम सुशीतल आश्रय पाकर सर्वदा निश्चिन्त एवं प्रसन्नचित्त हैं । वे किसीके द्वारा मानापमान, तोषण-निन्दन लाभ-हानि आदिकी चिन्ता न कर अपने जगत् मङ्गलमयी कार्यमें सर्वदा उद्यमशील हैं । वे समस्त विघ्न एवं विघ्नकारी व्यक्तियोंके मस्तक पर पदाघात करते हुए अपने लक्ष्य तक अनायास ही पहुँच जाते हैं ।

भगवद्भक्त लोग ही अच्युत भगवानकी अमृतमयी कथा-नाम आदिके प्रचार-प्रसार द्वारा चिद्ज्ञानालोककी अलौकिक प्रभाका विस्तार कर माया अज्ञानान्धकारका विनाश कर, माया के कराल काल द्वारा ग्रसित भगवद्बहिर्मुख संसारी जीवोंको सर्वमंगलदाता, आनन्दके अपरन्त असीम भण्डार एवं अक्षयस्वरूप उनके परम प्रेमास्पद, नित्य-सहचर सुहृदोत्तम भगवानका यथार्थ सन्धान उनको प्रदानकर शाश्वत सुख-शान्तिका पथ प्रशस्त कर रहे हैं । वे ही संसारका यथार्थ कल्याण कर रहे हैं एवं वे ही यथार्थ रूपमें निःस्वार्थ, परदुःखदुःखी एवं जीवमात्रके शुभेच्छुक हैं । वे तो छल-बलसे

येन-केन प्रकारेण बद्ध जीवोंको भगवान्‌की सेवामें नियुक्त कर उन्हें पंचम पुरुषार्थ एवं अमूल्यतम निधि स्वरूप भगवत्-प्रेम प्रदान करने लिए प्रस्तुत हैं, जिसे पाकर जीवोंके संताप, मोह, अभाव सर्वथा सब समयके लिए मिट जाते हैं एवं वे पूर्णतम आनन्द एवं शाश्वत शान्तिके पूर्ण अधिकारी बन जाते हैं।

'श्रीभागवत-पत्रिका' इसीकी मूर्त्तिमती आदर्श स्वरूपा एवं पराविद्याकी तड़ित्-वार्त्ता वाहिनी हैं। परमार्थकी सुरक्षा करते हुए सब प्रकारसे उसकी समृद्धि करना ही इनका एक-मात्र लक्ष्य है। नित्यसत्यआम्नाय श्रौत वाणी की ये अकाट्य, अभेद्य, कवचस्वरूपा हैं। निखिल वेद-वेदान्तके एकमात्र प्रतिपाद्य, सर्व महाजन-स्वीकृत, स्वयं भगवान् कलियुग स्वभजन-विभजन प्रयोजनावतारी श्रीशचीनन्दन श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु-श्रीमुखविगलित अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त रूप श्रीगौड़ीय वेदान्तकी उज्ज्वल पताका सर्वत्र फहराना ही हमारा एकमात्र उद्देश्य है।

परमार्थका तत्त्व बड़ा ही दुर्बोध एवं विलक्षण होने पर स्वयं भगवान श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु एवं उनके निजजनस्वरूप श्रीस्वरूप-रूप-सनातन-जीव रघुनाथ आदि महाजनोंने कृपा लेकर जीवोंके लिए सहजगम्य एवं अनायासप्राप्य बना दिया है। श्रीरूपानुग गुरुवर्गने हम जैसे पतित, स्वमंगल-विस्मृत, कृष्णानुसंधान रहित जीवोंके उद्धारके लिए एवं उन्हें नित्य गति प्रदान करनेके लिए क्या नहीं किया है? विशेषकर वर्त्तमान शुद्ध भक्तिगङ्गाके भगीरथ स्वरूप, 'सप्तम गोस्वामी' नामसे ख्यात, जगद्गुरु श्रीश्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर एवं उनके योग्यतम अधस्तन श्रीगौड़ीय-आचार्य-भास्कर, शुद्धभक्ति सिद्धान्ताचार्य मुकुटमणि जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर तथा उनके प्रेष्ठतम निजजन मदीय गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके हम जैसे क्षुद्र वराकसदृश एवं कीटाणुकीटतुल्य व्यक्ति असीम एवं चिर ऋणी हैं। इन महापुरुष शिरोमणियोंकी अहैतुकी कृपा की भिक्षा करते हुए, उनके दासानुदासों की सेवाभिलाषा हृदयमें पोषण करते हुए हम जन्म-जन्मान्तरमें भी उनके चरणरज पानेकी आशा करते हैं।

अतएव हमारी विनीत प्रार्थना है कि वे हम पर ऐसी कृपा करें, जिससे हम जैसे क्षुद्र दुर्बल जीव उनके निजजनोंका आनुगत्य ग्रहण कर उनके मनोभिष्ट पूरणकारी कार्यमें अपने को आहुति प्रदान कर सकें।

— सम्पादक